भारत में लोकतंत्र का भविष्य

एजेंसी (वेब वार्ता न्यूज)

देश के उदारवादी तबके के बुद्धिजीवी और प्रगतिशील लोगों के साथ-साथ आमजनों का भी बहुत बड़ा तबका है जो भारत में लोकतंत्र के भविष्य को लेकर चिंतित है। लोकतंत्र, जिसे स्वतंत्रता के 67 वर्षों में मात्र कुछ माह को छोड़कर हमारे देश के उदारशील प्रगतिवादी तबके ने, राजनीतिज्ञों ने, आमजनों ने बहुत ही शिद्दत के साथ लगातार पोषित किया था। यहां मैं 67 वर्ष इसलिए कह रहा हूं क्योंकि नरेंद्र मोदी के नेतृत्व में भाजपा के दिल्ली में काबिज होने के साथ ही यह स्पष्ट हो गया था कि सरकार का नेतृत्व राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के एक ऐसे कट्टर अनुयायी के हाथों में चला गया है, जो भारत के संसदीय लोकतंत्र और उसकी लोकतांत्रिक संस्थाओं की स्वायत्ता को संघ के विचारों के प्रसार में सबसे बड़ी बाधा मानता है और शनै- शनै- आज नहीं तो कल उन पर प्रहार अवश्य प्रारंभ होगा।

पिछले 5 वर्षों के दौरान यह आशंका सच ही निकली है। वह चाहे सर्वोच्च न्यायालय हो, सीबीआई हो, रिजर्व बैंक हो या चुनाव आयोग हो, प्रत्येक संस्था संविधान के अंदर नियमों का प्रावधान करते हुए इसलिए गठित की गई थी कि वह देश में लोकतंत्र की रक्षा के लिए सरकार से स्वतंत्र होकर स्वायत्त तथा पारदर्शी ढंग से कार्य करेगी, आज सरकार के हाथ में कठपुतली है और उसके निर्देशों पर समस्त संवैधानिक प्रावधानों की धज्जियां उड़ाते हुए सिर्फ सत्ता प्रमुख और उसकी पार्टी को बचाने या उसके निर्देशों पर उन सभी के खिलाफ सक्रिय है, जो सत्तारूढ़ पार्टी की हां में हां मिलाने के लिए तैयार नहीं हैं।

आज जब मैं इन पंक्तियों को लिख रहा हूं, 17वीं लोकसभा के लिए चल रहे आम चुनावों के आखिरी चरण के चुनाव का प्रचार अभियान पश्चिम बंगाल को छोड़कर शेष देश में थमने को है। पश्चिम बंगाल को छोड़कर इसलिए कि वहां मंगलवार 14 मई को भाजपा के अध्यक्ष अमित शाह के रोड शो के दौरान हुए अभूतपूर्व उपद्रव, आगजनी और हिंसा के बाद, जिसके दौरान पुनर्जागरण काल के समाज सुधारक, विधवा विवाह, स्त्रियों के लिए शिक्षा के अधिकार, विधवा विवाह के लिए कानून बनवाने (1856) के लिए आंदोलन चलाने वाले और पूरे देश में आदर के साथ याद किये जाने वाले ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की एक कॉलेज में स्थापित मूर्ति को तोड़ने की घटना के बाद चुनाव आयोग ने अभूतपूर्व कदम उठाते हुए प्रचार पर पूरे दो दिन के बाद गुरुवार याने 16 तारीख की रात्रि 10 बजे से रोक लगा दी थी।

चुनाव आयोग के इस फैसले की सराहना होती यदि उसने ऐसा मंगलवार की रात्रि अथवा बुधवार के प्रात: से भी किया होता। पर, चुनाव आयोग ने प्रचार पर बेन लगाने का फैसला लिया गुरुवार याने दो दिन के बाद रात्रि 10 बजे से। राजनीतिक पार्टियों की बात तो छोड़ भी दें तो भी साधारण जन तक अचंभित थे कि यह कैसा फैसला है? स्पष्टत: गुरुवार को प्रधानमंत्री को पश्चिम बंगाल में दो रैलियां करनी थीं और चुनाव आयोग ने इसके लिए प्रधानमंत्री को पूरा वक्त दिया। वे सभी राजनीतिक दल जिन्होंने शुक्रवार को शाम 5 बजे चुनाव प्रचार थमने के पहले अपनी सभाएं रखी थीं, अपने प्रचार से वंचित हो गए। भारत में अभी तक हो चुके 16 आमचुनावों में चुनाव आयोग का सत्तारूढ़ दल के लिए इतना ममत्व भरा रवैया कभी नहीं देखा गया, जो आज पिछले चार सालों के दौरान देखने मिल रहा है।

संसदीय लोकतंत्र में न्यायपालिका को विधायिका और कार्यपालिका के बाद अत्यंत महत्वपूर्ण माना जाता है, पर मेरे अनुसार, यद्यपि चुनाव आयोग उन तीनों स्तंभों में शामिल नहीं रहता, उसके बावजूद, क्योंकि वह चुनाव कराता है और उसके द्वारा घोषित परिणाम ही सरकार बनाते हैं, उसका महत्व लोकतंत्र में किसी भी स्तम्भ से ज्यादा है। यदि वही पक्षपाती और फासीवादी प्रवृतियों का पिछलग्गू हो जाए तो बाद का पूरा लोकतंत्र तो केवल नाटक ही है। ऐसा नहीं है कि केवल चुनाव आयोग की स्वायत्ता ही देश के लोकतंत्र प्रेमियों को चिंता में डाल रही है।

चिंतित होने की जरूरत भारत की बहुलतावादी पहचान या संस्कृति पर हो रहे आक्रमण को लेकर भी है। जैसा मैंने पूर्व में इंगित किया कि पिछले 5 वर्षों में मोदी के नेतृत्व में संघ की सोच याने हिंदुत्व की अवधारणा को ही देश के लोगों में कूट-कूट कर भरने के सबसे अधिक प्रयास हुए हैं। चाहे वे प्रयास सरकार के मंत्रियों के द्वारा किए गए हों या सत्तारूढ़ पार्टी के सांसदों, विधायकों और नेताओं के द्वारा अथवा लव जिहाद या गाय के नाम पर की गई मॉब लिंचिंग के दवारा, पर, पिछले 5वर्ष का इतिहास इसी से भरा पड़ा है। अटल बिहारी वाजपेयी के पूर्णरूपेण सत्ता में आने के बाद स्टेम ग्राहम की बच्चों सहित की गई हत्या पिछले 5 वर्षों के दौरान भीड़ के द्वारा की गई हत्याओं के सामने कुछ भी नहीं है।

यह पहला आम चुनाव है जिसमें प्रतिबंध के बावजूद भी धार्मिक प्रतीकों का खुल कर इस्तेमाल किया गया है। मंदिर-मस्जिद-गुरुद्वारे की इस राजनीति का सबसे दुखद पहलू यह है कि देश की सबसे पुरानी और स्वतंत्रता संग्राम की लड़ाई की अगुआ और उसमें से तप कर निकली कांग्रेस पार्टी भी भाजपा के इस 'हिंदुत्व' के आक्रमण का सामना करने के लिए 'नरम हिंदुत्व' की तरफ झुकी हुई दिख रही है। यही कारण है कि देश के बड़े उदारवादी-प्रगतिशील तबके को कांग्रेस की विचारधारा में आ रहे इस परिवर्तन से चिंता हो रही है। यदि मध्यमार्गी कांग्रेस का सामाजिक और धार्मिक आधार पर झुकाव भविष्य में भी हिंदुत्व की तरफ इसी तरह नरमतर रहेगा तो देश की बहुलतावादी संस्कृति को खतरा न केवल गहरा होगा बल्कि भाजपा और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की हिंदुत्व की विचारधारा को और भी गहरे तक पांव पसारने का मौका मिलेगा जो कहने की जरूरत नहीं कि देश के लोकतंत्र के लिए घातक ही होगा।

इसका सबसे चिंताजनक पहलू यह है कि देश का एक भी चुनाव ऐसा नहीं गया है जिसे किसी पार्टी ने जाति और सम्प्रदाय के आधार पर न लड़ा हो। देश की जनता का बड़ा मतदाता वर्ग भी इसे स्वीकार कर चुका है और इस बारे में चिंतित नहीं दिखता है, सिवाय, धार्मिक रूप से अल्पसंख्यक हिस्से को छोड़कर जो लोकतंत्र में घर कर गये इस क्षरण से सबसे अधिक प्रभावित होते हैं। ऐसे में 'हिंदुत्व' का सामना नरम हिंदुत्व से करने की चेष्टा राष्ट्र की बहुलतावादी संस्कृति के लिए घातक है।

राष्ट्रवाद के नाम पर संसदीय लोकतंत्र में न केवल हमारे देश में बल्कि विश्व के अन्य अनेक देशों में राजनीतिज्ञों ने चुनाव जीते हैं। हमारे देश में ही विशेषकर पाकिस्तान के साथ हुए युद्ध के बाद, जिसमें बंगला देश का निर्माण हुआ और इंदिरा गांधी की हत्या के बाद उपजे राष्ट्रवाद के चुनावों में मतदाताओं का राष्ट्रवाद के लिए रुझान हमने देखा है। पर, वह एक स्वाभाविक प्रक्रिया के रूप में सामने आया था। अमेरिका में ट्रम्प ने राष्ट्रवाद को उभारने के लिए 'America for Americans only' का नारा दिया था। भारत में आज हिदुस्तान हिंदुओं के लिए नारा दिया जा रहा है। यह एक कदम आगे अति-राष्ट्रवाद की श्रेणी में आता है। यद्यपि, खुले तौर पर 2014 के आम चुनावों में यह कोई विशेष मुद्दा नहीं था। पर, 2014 में सत्ता में आने के बाद, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और भारतीय जनता पार्टी, नरेंद्र मोदी के नेतृत्व में इस विचार को शनै: शनै: देशवासियों के रोजमर्रा के सार्वजनिक जीवन में घुसाने में एक हद तक सफल हुई है, इसे नकारा नहीं जा सकता। यह ऐसा राष्ट्रवाद है जो हिंदुत्व की अवधारणा से जुड़ा हुआ है और राष्ट्रीय झंडे से होते हुए गाय, लव जिहाद, धर्मपरिवर्तन, पाकिस्तान से नफरत, आतंकवाद, वंशवाद तक सब कुछ अपने में समेटे हुए है। यह राष्ट्रवाद गंभीर और विचारवान नहीं है। यह उत्तेजना और उच्छृंखलता से भरा हुआ है।

यह जय हिंद, भारतमाता की जय पर समाप्त नहीं होता, इसकी सीमा जय श्रीराम के उद्घोष से शुरू होकर सरकार की नीतियों और संघ-भाजपा या प्रधानमंत्री की आलोचना करने वालों को पाकिस्तान भेजने तक है, भले ही वह आलोचना आर्थिक नीतियों की हो अथवा कानून का शासन लागू करने में सरकार की विफलता की हो। प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी जब का इस अति-राष्ट्रवाद को 17वीं लोकसभा के लिए हो रहे चुनावों में विशेष हथियार के रूप में इस्तेमाल करना महज एक संयोग नहीं है। इस अति-राष्ट्रवाद को 17वीं लोकसभा के लिए होने वाले आम चुनावो में प्रमुख हथियार बनाया जाएगा, इसकी तैयारी बाकायदा देशवासियों की आंखों के सामने लोकतंत्र के तीनों स्तंभों विधायिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका और चौथे तथाकथित स्तंभ मीडिया की सहायता के साथ पिछले 5 सालों के दौरान की गई ताकि देशवासियों को यह सब स्वाभाविक लगे और वे इसे स्वीकार करें।

मैं यहां उस अंडरग्राउंड तैयारी की बात तो कर ही नहीं रहा हूं जो संघ अपने जन्म से लेकर अभी तक करता रहा है। जो, इस तैयारी को समझ रहे थे और इसके खिलाफ कुछ भी कहने का साहस कर रहे थे, उनके साथ चारों स्तंभों ने साम-दाम-दंड-भेद सभी तरीके अपनाए। कलबुर्गी, पंसारे और लंकेश की हत्याएं उसी की कड़ी हैं। पुलवामा में हुए आतंकवादी हमले ने और उसके बाद बालाकोट में की गई एयर-स्ट्राइक ने इस अति-राष्ट्रवाद को और ऊंचाई दी।

एजेंसी (वेब वार्ता न्यूज)

चिंतन

बेवजह की दौड़: एक्जिट पोल के आधार पर वास्तविक चुनाव नतीजों का आकलन नहीं किया जा सकता

चुनाव नतीजों से पहले ही विपक्षी दलों के विभिन्न नेताओं के बीच मेल मिलाप तेज होना हैरान करने वाला था। शायद वह भाप गए थे कि नतीजे उनके पक्ष में नहीं आ रहे है। फिर भी उम्मीद में सारे हथकंडे अपनाने में लगे थे। खैर अब पांच साल के इंतजार के अलावा अब उनके लिए कुछ नहीं बचा।

चुनाव नतीजे आने के पहले ही विपक्षी दलों के विभिन्न नेताओं के बीच मेल-मिलाप तेज होना हैरान करने वाला है। मतदान का आखिरी चरण संपन्न होने के पहले ही आंध्र प्रदेश के मुख्यमंत्री चंद्रबाबू नायडू अखिलेश यादव और मायावती से तो मिले ही, उन्होंने सोनिया गांधी और राहुल गांधी से भी मुलाकात की। इसके बाद वह राष्ट्रवादी कांग्रेस पार्टी के प्रमुख शरद पवार से भी मिले। उनके इस सघन संपर्क अभियान के बीच ऐसी खबरें हैं कि बसपा प्रमुख मायावती संप्रग अध्यक्ष सोनिया गांधी से मुलाकात कर सकती हैं। इसमें कोई हर्ज नहीं, लेकिन क्या यह वही मायावती नहीं जिन्होंने उत्तर प्रदेश में कांग्रेस को अपने गठबंधन में शामिल करने से इन्कार करने के साथ ही उसे सार्वजनिक रूप से झिड़क भी दिया था? यह बात और है कि बाद में उन्होंने कांग्रेस के गढ़ में जाकर उसके लिए वोट भी मांगे। गठबंधन की राजनीति के नाम पर केवल इतना ही नहीं हुआ। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक ऐसे काम हुए जिनसे जनता के बीच न केवल भ्रम फैला, बल्कि उसके बीच यह संदेश भी गया कि विपक्षी दल अपनी एकजुटता को लेकर गंभीर नहीं हैं। इसकी भी अनदेखी नहीं की जा सकती कि विपक्षी एकता की जरूरत पर तमाम बल दिए जाने के बावजूद भाजपा विरोधी दल अपनी एकजुटता का सही तरह से प्रदर्शन नहीं कर सके। वे महागठबंधन बनाने को लेकर बड़ी-बड़ी बातें और साथ ही बैठकें तो करते रहे, लेकिन कोई ठोस विकल्प देने की रूपरेखा तैयार नहीं कर सके।

अपने देश में यह एक बड़ी समस्या रही है कि विपक्षी दलों ने जब-जब एकजुट होकर सत्तारूढ़ दल को चुनौती देने का उपक्रम किया है तब-तब वे इसमें नाकाम ही रहे हैं। इस नाकामी की मूल वजह रही अपने-अपने स्वार्थ सिद्ध करने की हड़बड़ी। विपक्षी दल देश की जरूरत के नाम पर एकजुट तो होते रहे, लेकिन फिर जल्द ही बिखर भी जाते रहे। पता नहीं इस बार क्या होगा, लेकिन बेहतर यह होता कि अलग-अलग चुनाव लड़ने वाले राजनीतिक दल चुनाव नतीजों का इंतजार करते। यदि चुनाव नतीजे विपक्षी एकता की जरूरत को रेखांकित करते दिखें तो फिर भाजपा विरोधी दलों के नेताओं के लिए यह आवश्यक हो जाएगा कि वे किसी वैकल्पिक व्यवस्था के निर्माण की कोई कोशिश करें।

नतीजे आने के पहले ही उनकी सक्रियता तो यही बता रही है कि वे येन-केन-प्रकारेण सत्ता में आने के लिए बेकरार हैं। यह बेकरारी समझ आती है, लेकिन ज्यादा जरूरी यह है कि जनादेश का सम्मान किया जाए। यह ठीक नहीं कि चुनाव बाद इस या उस बहाने विभिन्न राजनीतिक दल जनादेश की मनमानी व्याख्या करते हुए एकजुट हो जाएं। निस्संदेह कई बार खंडित जनादेश की हालत में विपरीत विचारधारा वाले दलों के लिए मिलकर सरकार बनाने की बाध्यता आ जाती है, लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि ऐसी किसी बाध्यता से लोकतंत्र को बल मिलता है। एक्जिट पोल के आधार पर वास्तविक चुनाव नतीजों का आकलन नहीं किया जा सकता, लेकिन इतना तो है ही कि वे संभावित झलक पेश करते हैं। यह समय बताएगा कि चुनाव नतीजे एक्जिट पोल सरीखे होंगे या उससे इतर, लेकिन विपक्षी दल यह समझें तो बेहतर कि अभी नए समीकरण बनाने का वक्त नहीं आया है।